जे.सी. सहगल

बनाम

देवी दास एवं अन्य

(27 अप्रैल, 2004)

[एस. राजेंद्र बाबू, ए.आर लक्ष्मणन तथा जी. पी. माथुर, न्यायमूर्ति]

जम्मू और कश्मीर पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम, 1936

धारा 15 (जैसा कि 1973 में संशोधित) – पूर्व-क्रय (Pre-emption) – अधिकार – सन्निहितता-सह-पड़ोस (Contiguous-cum-vicinage) – इससे संबंधित प्रावधान – 1973 के संशोधन द्वारा हटाया गया – प्रभाव – संपत्ति में चार कमरे तथा उनसे संबंधित भूमि सम्मिलित थी, जिसे मालिक ने एक व्यक्ति (आइडी) को बेच दिया। एक कमरे में रहने वाले किरायेदार ने आइडी को मकान-मालिक के रूप में स्वीकार कर लिया। आइडी ने 1977 में किरायेदारी वाले भाग को एक व्यक्ति (वीपी) को बेच दिया। वादी ने यह कहते हुए पूर्व-क्रय वाद (pre-emption suit) द्वारा इस विक्रय को चुनौती दी कि वीपी द्वारा खरीदी गई संपत्ति उसकी भूमि से सटी हुई है। वाद की लंबित अवस्था के दौरान वीपी ने संपत्ति एसके को बेच दी, जिसने आगे चलकर उसी किरायेदार को वह संपत्ति बेच दी। विचारण न्यायालय ने 1984 में वाद को डिक्री कर दिया। प्रतिवादी ने 1998 में उक्त किरायेदार से वह संपत्ति खरीद ली। वादी ने 2000 में डिक्री के निष्पादन के लिए याचिका दायर की। प्रतिवादी ने यह दलील दी कि उसे पूर्व-क्रय कार्यवाही के लंबित होने या उस पर पारित आदेश की कोई जानकारी नहीं थी। प्रतिवादी ने घोषणा (declaration) तथा स्थायी निषेधाज्ञा (perpetual injunction) के लिए एक पृथक वाद भी दायर किया, जो अभी लंबित है।

अभिनिर्धारित: वादी ने ऐसे विधिक प्रावधान के आधार पर पूर्व-क्रय का दावा किया जो अस्तित्व में ही नहीं था। अतः जिस डिक्री का निष्पादन किया जाना चाहा जा रहा है, वह शून्य (nullity) है। इसलिए वह प्रतिवादी, जो अपने द्वारा दायर वाद के निस्तारण तक संपत्ति के कब्जे में है, उसे बेदखल नहीं किया जा सकता। सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 21 नियम 58 तथा आदेश 39 नियम 1 और 2।

वादगत संपत्ति, जिसमें चार कमरे तथा उनसे संबंधित भूमि सम्मिलित थी, एक व्यक्ति आइडी को बेची गई। एक कमरे में रहने वाले किरायेदार ने आइडी को अपना मकान-मालिक स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात आइडी ने किरायेदारी वाले भाग को वीपी को बेच दिया। प्रतिवादी संख्या 1/वादी ने उक्त विक्रय को जम्मू और कश्मीर पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम, 1936 के अंतर्गत पूर्व-क्रय वाद दायर कर इस आधार पर चुनौती दी कि वीपी द्वारा खरीदी गई संपत्ति उसकी भूमि से सटी हुई (contiguous) है। पूर्व-क्रय वाद की लंबित अवस्था के दौरान वीपी ने वादगत संपत्ति एसके को बेच दी, जिसने आगे चलकर वही संपत्ति उस किरायेदार को बेच दी जो पहले से ही वादगत संपत्ति के कब्जे में था। विचारण न्यायालय ने वर्ष 1984 में वाद को डिक्री कर दिया।

अपीलकर्ता ने वर्ष 1998 में उक्त किरायेदार से वादगत संपत्ति खरीद ली। प्रतिवादी संख्या 1/वादी ने वर्ष 2000 में उक्त डिक्री के निष्पादन के लिए याचिका दायर की। विचारण न्यायालय ने कब्जा दिलाने हेतु वारंट जारी किया। अपीलकर्ता ने यह निवेदन किया कि उसे पूर्व-क्रय कार्यवाही के लंबित होने या उस पर पारित आदेश के संबंध में कोई जानकारी नहीं थी। अपीलकर्ता ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21 नियम 58, 99 और 101 के अंतर्गत विभिन्न आधारों पर एक आवेदन दायर किया तथा कब्जा दिलाने के वारंट के क्रियान्वयन पर स्थगन की प्रार्थना की। अपीलकर्ता ने प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा प्राप्त डिक्री को चुनौती देते हुए घोषणा तथा स्थायी निषेधाज्ञा के लिए एक पृथक वाद भी दायर किया। अपीलकर्ता द्वारा दायर यह वाद अभी भी लंबित था।

विचारण न्यायालय ने अपीलकर्ता के आवेदन को अस्वीकार कर दिया। अपीलीय न्यायालय ने अंतरिम आदेश पारित किया। जिला न्यायाधीश ने अपील को स्वीकार करते हुए वाद के अंतिम निर्णय तक एकपक्षीय डिक्री के क्रियान्वयन पर स्थगन प्रदान कर दिया। अपीलकर्ता तथा प्रतिवादी संख्या 1 ने उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण याचिका दायर की। उच्च न्यायालय ने अपीलकर्ता की पुनरीक्षण याचिका को खारिज कर दिया। अतः यह अपील दायर की गई।

अपील को स्वीकार करते हुए न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया:

1.1. जम्मू और कश्मीर पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम, 1936 की धारा 15(6) में वर्ष 1973 में संशोधन किया गया था और बेची गई संपत्ति से सटी हुई संपत्ति के स्वामियों से संबंधित प्रावधान को हटा दिया गया था। (731-D; 732-C-D)

1.2. प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा वर्ष 1978 में वाद दायर किया गया था, जिसमें 1973 के संशोधन से पूर्व विद्यमान विधि के अंतर्गत पूर्व-क्रय का दावा किया गया था। वर्ष 1973 के बाद अधिनियम में ऐसा कोई प्रावधान नहीं रहा, जिसके अंतर्गत बेची गई संपत्ति से सटी हुई संपत्ति का स्वामी पूर्व-क्रय का दावा कर सके। अतः वादी/प्रतिवादी संख्या 1 ने असंशोधित धारा 15 (जैसा कि 1973 से पूर्व विद्यमान थी) के खंड 'षष्ठतः' के अंतर्गत डिक्री प्रदान किए जाने की प्रार्थना की। तथापि जो डिक्री पारित की गई, वह धारा 15 के खंड 'पंचमतः' के आधार पर थी। (732-D-E)

1.3. इस प्रकार, यद्यपि प्रतिवादी संख्या 1 ने ऐसे विधिक प्रावधान के आधार पर पूर्व-क्रय का दावा किया जो अस्तित्व में ही नहीं था, तथापि न्यायालय ने अन्य आधार पर, जिस पर कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया था, पूर्व-क्रय की डिक्री प्रदान कर दी। परिणामस्वरूप उक्त डिक्री ही दोनों वादों में चुनौती का विषय बनी। (733-F)

2.1. अपीलकर्ता ने यह कहते हुए घोषणा तथा स्थायी निषेधाज्ञा के लिए भी एक वाद दायर किया है कि उक्त डिक्री शून्य है, क्योंकि वह अधिकारिता के अभाव में सन्निहितता-सह-पड़ोस (contiguity-cum-vicinage) के एक अवैध प्रावधान के आधार पर पारित की गई थी तथा वह जानबूझकर किए गए कपट, धोखाधड़ी, छल और तथ्यों के मिथ्या प्रतिपादन के आधार पर पारित की गई थी। यदि इन वादों के लंबित रहने के दौरान, वर्ष 1984 की डिक्री के लगभग 16 वर्ष बाद जिस डिक्री का निष्पादन कराया जा रहा है, उसे क्रियान्वित किया जाता है, तो संपत्ति के कब्जे में रहने वाले अपीलकर्ता को उसके द्वारा दायर वादों के निस्तारण से पूर्व ही संपत्ति से बेदखल कर दिया जाएगा। (735-F-H; 736-A)

2.2. यह निर्देश दिया जाता है कि दोनो वादों के निस्तारण तक निष्पादन कार्यवाही स्थगित (abeyance) रहेगी–एक वाद आरके द्वारा, जो अपीलकर्ता का विक्रेता है, और दूसरा वाद स्वयं अपीलकर्ता द्वारा दायर किया गया है। इस बीच अपीलकर्ता को कब्जे से बेदखल नहीं किया

जाएगा, विशेषतः इस तथ्य को देखते हुए कि प्रतिवादी संख्या 1 पूर्व-क्रय के अधिकार को प्रवर्तित करना चाहता है, जो कि एक दुर्बल अधिकार (weak right) माना जाता है। (736-A-B)

भाउ राम बनाम बैजनाथ सिंह, पर भरोसा किया गया।

सिविल अपीलीय अधिकारिता: सिविल अपील संख्या 2713-2714, 2003।

जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय द्वारा सीआर संख्या 231/2001 तथा सीआर संख्या 4/2002 में पारित दिनांक 10.10.2002 के निर्णय और आदेश से।

अपीलकर्ताओं की ओर से: रणजीत कुमार, बी.एस. जैन, अजय वीर सिंह, सुश्री चारुवाली खन्ना, सुश्री निलोफर कुरैशी तथा डॉ. (श्रीमती) विपिन गुप्ता।

प्रतिवादियों की ओर से: गोपाल जैन तथा अमित धिंगरा।

ये दोनों अपीलें एस.एल.पी (सिविल) संख्या 21469-21470, 2002 से उत्पन्न हुई हैं और जम्मू स्थित जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय द्वारा सी.आर. संख्या 231/2001 तथा सी.आर. संख्या 4/2002 में दिनांक 10.10.2002 को पारित निर्णय और अंतिम आदेश के विरुद्ध दायर की गई हैं, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने वर्तमान अपीलकर्ता जे.सी. सहगल की पुनरीक्षण याचिका सी.आर. संख्या 231/2001 को खारिज कर दिया तथा प्रतिवादी संख्या 1 देवी दास द्वारा दायर पुनरीक्षण याचिका सी.आर. संख्या 4/2002 को स्वीकार कर लिया।

न्यायालय का निर्णय द्वारा दिया गया:

ए.आर लक्ष्मणन, न्यायमूर्ति, अनुमति प्रदान की गई।

मामले की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के तथ्य इस प्रकार हैं:

अब्दुल रऊफ अहमद चार कमरों तथा उनसे संबंधित भूमि के स्वामी एवं कब्जाधारी थे। उक्त कमरों में से एक कमरा तथा भूमि का कुछ भाग राज कुमार को किरायेदार के रूप में किराए पर दिया गया था। उपर्युक्त अब्दुल रऊफ अहमद ने पूरी संपत्ति आइसर दास को बेच दी। वर्तमान मामले में प्रतिवादी संख्या 2 से 5 उक्त आइसर दास के विधिक उत्तराधिकारी हैं। किरायेदार राज कुमार ने स्वर्गीय आइसर दास को अपना मकान-मालिक स्वीकार कर लिया और वर्ष 1967 में

एक नया किराया-पत्र (rent note) निष्पादित किया गया। राज कुमार की उक्त किरायेदारी के दौरान स्वर्गीय आइसर दास ने पूरी संपत्ति को चार पृथक भागों में विभाजित कर दिया। राज कुमार की किरायेदारी वाले भाग को स्वर्गीय आइसर दास ने दिनांक 20.3.1977 की विक्रय विलेख के माध्यम से वेद पाल गुप्ता को बेच दिया। इस विक्रय को वर्तमान प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा जम्मू और कश्मीर पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम, 1936 के प्रावधानों का सहारा लेते हुए पूर्व-क्रय वाद के माध्यम से चुनौती दी गई। वाद में लिया गया एकमात्र आधार यह था कि वेद पाल द्वारा खरीदी गई संपत्ति वादी (प्रतिवादी संख्या 1) की भूमि से सटी हुई थी, क्योंकि उसके घर की पमाल्लाएँ (pamallas) बेची गई संपत्ति की ओर बहती थीं। तथापि वाद में प्रतिवादीगण न्यायालय में उपस्थित नहीं हुए और उन्होंने प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर वाद का प्रतिवाद नहीं किया। पूर्व-क्रय वाद के लंबित रहने के दौरान वेद पाल, जिसने वादगत संपत्ति पर निर्माण भी किया था, ने उक्त संपत्ति को दिनांक 19.5.1978 की विक्रय विलेख द्वारा शशि कांत को बेच दिया। यह तथ्य वादी/प्रतिवादी संख्या 1 के ज्ञान में था। उक्त शशि कांत ने आगे चलकर वही वादगत संपत्ति राज कुमार को बेच दी, जो पहले से ही उस संपत्ति के किरायेदार के रूप में कब्जे में था और संपत्ति खरीदने तक किरायेदार बना रहा। राज कुमार ने दिनांक 1.7.1981 की विक्रय विलेख द्वारा वादगत संपत्ति खरीद ली। विचारण न्यायालय ने साक्ष्यों के आधार पर दिनांक 13.12.1984 को निर्णय पारित कर वाद को डिक्री कर दिया, जिसकी प्रति परिशिष्ट-पी/1 के रूप में संलग्न की गई है। दिनांक 17.1.1998 को वर्तमान अपीलकर्ता ने उक्त राज कुमार से मूल्य देकर विक्रय विलेख के माध्यम से वादगत संपत्ति खरीद ली। अपीलकर्ता के अनुसार उसे पूर्व-क्रय कार्यवाही के लंबित होने या उस पर पारित आदेश की कोई जानकारी नहीं थी। दिनांक 20.8.2000 को प्रतिवादी संख्या 1 ने विचारण न्यायालय के समक्ष निष्पादन याचिका दायर की। विचारण न्यायालय ने दिनांक 28.8.2000 के आदेश द्वारा कब्जा दिलाने हेतु वारंट जारी किया। निष्पादन कार्यवाही की जानकारी मिलने पर अपीलकर्ता ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXI नियम 58, 99 और 101 के अंतर्गत विभिन्न आधारों पर आवेदन दायर किया तथा कब्जा दिलाने के वारंट के क्रियान्वयन पर स्थगन की प्रार्थना की। अपीलकर्ता ने निष्पादन न्यायालय के संज्ञान में यह तथ्य भी लाया कि उसने उक्त डिक्री को एक पृथक वाद में चुनौती दी है और वह विचाराधीन है। दिनांक 19.12.2000 को अपीलकर्ता ने प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा प्राप्त डिक्री को चुनौती देते हुए घोषणा तथा स्थायी निषेधाज्ञा के लिए एक पृथक वाद दायर किया। विचारण न्यायालय ने दिनांक 19.12.2000 के आदेश द्वारा अस्थायी निषेधाज्ञा

प्रदान करते हुए निष्पादन कार्यवाही पर स्थगन लगा दिया। बाद में विचारण न्यायालय ने दिनांक 3.11.2001 के आदेश द्वारा 19.12.2000 को प्रदान की गई अंतरिम राहत को निरस्त कर दिया। विचारण न्यायाधीश ने दिनांक 13.11.2001 के पृथक आदेश द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 94 तथा 151 के साथ पठित आदेश XXI नियम 58, 99 और 101 के अंतर्गत दायर अपीलकर्ता के आवेदन को अस्वीकार कर दिया (परिशिष्ट-पी/3)। अपीलकर्ता ने उप-न्यायाधीश द्वारा अस्थायी निषेधाज्ञा निरस्त किए जाने के आदेश को चुनौती देते हुए अतिरिक्त जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील दायर की। द्वितीय अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने दिनांक 4.12.2001 के आदेश द्वारा अपीलकर्ता को सुनने के बाद अंतरिम आदेश प्रदान किया। इसके पश्चात अपीलकर्ता ने दिनांक 13.11.2001 के उप-न्यायाधीश के निर्णय को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण याचिका दायर की। यह पुनरीक्षण याचिका सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXI नियम 58, 99 और 101 तथा धारा 94 एवं 151 के अंतर्गत दायर आवेदन से संबंधित अंतरिम आदेशों के विरुद्ध थी। प्रतिवादी संख्या 1 ने भी द्वितीय अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा पारित अंतरिम आदेशों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण याचिका दायर की। जिला न्यायाधीश ने अपील को स्वीकार करते हुए वाद के अंतिम निर्णय तक एकपक्षीय डिक्री के निष्पादन पर स्थगन प्रदान कर दिया। उच्च न्यायालय ने दोनों याचिकाओं को एक साथ सुनवाई के लिए ग्रहण किया और दिनांक 10.10.2002 के निर्णय द्वारा सिविल पुनरीक्षण याचिका संख्या सी.आर. 231/2001 को यह कहते हुए खारिज कर दिया कि उसमें कोई merit नहीं है तथा प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर पुनरीक्षण याचिका संख्या सी.आर. 4/2002 को स्वीकार कर लिया। अपीलकर्ता के अनुसार उच्च न्यायालय इस तथ्य पर विचार करने में असफल रहा कि प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर पुनरीक्षण याचिका संख्या सी.आर. 4/2002 निष्प्रभावी (infructuous) हो चुकी थी, क्योंकि अपीलीय न्यायालय ने स्वयं 4.10.2002 को अपील का निस्तारण कर दिया था और इसलिए उसमें कुछ भी शेष नहीं था। आगे यह भी प्रस्तुत किया गया कि प्रतिवादी संख्या 1 ने अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा पारित दिनांक 4.10.2002 के आदेश को चुनौती नहीं दी। यह भी कहा गया कि उच्च न्यायालय ने अपीलकर्ता द्वारा अपनी पुनरीक्षण याचिका में उठाए गए विभिन्न मुद्दों पर विचार नहीं किया। सी.आर. संख्या 231/2001 तथा सी.आर. संख्या 4/2002 में पारित आदेशों से व्यथित होकर वर्तमान अपीलें दायर की गई हैं।

हमने अपीलकर्ता की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री रणजीत कुमार तथा प्रतिवादियों की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता श्री गोपाल जैन को सुना।

हमारा ध्यान इस मामले में दायर प्रासंगिक अभिवचनों, उच्च न्यायालय तथा अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा पारित निर्णयों और आदेशों तथा संलग्न परिशिष्टों की ओर भी आकर्षित किया गया।

अपीलकर्ता की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री रणजीत कुमार ने प्रस्तुत किया कि उच्च न्यायालय द्वारा अपीलकर्ता को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXI नियम 58, 99 और 101 के अंतर्गत उपलब्ध विभिन्न आपत्तियों पर विचार न करना उचित नहीं था। उनके अनुसार अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा इस आधार पर याचिकाओं को अस्वीकार करना भी उचित नहीं था कि अपीलकर्ता द्वारा वादगत संपत्ति की खरीद lis pendens के सिद्धांत से प्रभावित है, जबकि यह भी विचार किया जाना चाहिए था कि क्या lis pendens का सिद्धांत वर्तमान मामले के तथ्यों पर लागू होता है या नहीं। उन्होंने आगे प्रस्तुत किया कि प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर सी.आर. संख्या 4/2002 को उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार करना भी उचित नहीं था, क्योंकि वह केवल एक अंतरिम आदेश को चुनौती देने के लिए दायर की गई थी, जो अपीलीय न्यायालय द्वारा दिनांक 4.10.2002 को अपील का निर्णय कर देने के कारण निष्प्रभावी हो चुकी थी। उन्होंने यह भी कहा कि अधीनस्थ न्यायालयों ने उस अपीलकर्ता के विरुद्ध डिक्री का निष्पादन करके त्रुटि की है, जो उस डिक्री का पक्षकार नहीं था, और यह डिक्री केवल एकपक्षीय साक्ष्य के आधार पर पारित की गई थी। साथ ही यह भी कहा गया कि अधीनस्थ न्यायालयों ने इस तथ्य पर विचार नहीं किया कि डिक्रीधारी ने स्वयं स्वेच्छा से वादगत संपत्ति के संबंध में अपीलकर्ता को किरायेदार के रूप में स्वीकार किया था।

इसके विपरीत, प्रतिवादी की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता श्री गोपाल जैन ने प्रस्तुत किया कि पानी की पर्नालियाँ संपत्ति को अपीलकर्ता को बेचे जाने से बहुत पहले ही लगाई गई थीं। पर्नालियों का पानी अपीलकर्ता की संपत्ति से होकर गुजरता है। उन्होंने कहा कि प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर पूर्व-क्रय वाद में उप-न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश में स्पष्ट रूप से इस तथ्य को ध्यान में रखा गया है कि प्रतिवादी संख्या 1 की संपत्ति अपीलकर्ता के घर के निकट स्थित है और छत पर लगी पर्नालियाँ उसी संपत्ति से होकर गुजरती हैं। इसलिए यह सिद्ध होता

है कि प्रतिवादी संख्या 1 की संपत्ति प्रधान (dominant) संपत्ति है और इस कारण प्रतिवादी संख्या 1 को पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम की धारा 15(5) के अंतर्गत पूर्व-क्रय का अधिकार प्राप्त है। यह भी कहा गया कि संपत्ति की बिक्री के संबंध में प्रतिवादी संख्या 1 को कोई सूचना नहीं दी गई, जबकि वह संपत्ति का मूल्य देने के लिए तैयार और इच्छुक था। प्रतिवादियों की ओर से उपस्थित अधिवक्ता के अनुसार उच्च न्यायालय ने सही रूप से यह माना कि अपीलकर्ता राज कुमार से संपत्ति खरीदकर अपने अधिकार में कोई सुधार नहीं कर सकता। उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष भी सही है कि पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम की धारा 15(5) के प्रयोजन हेतु स्थिति में सुधार (improvement in status) केवल राज कुमार पर लागू हो सकता है और अपीलकर्ता, जिसने राज कुमार से संपत्ति खरीदी है, धारा 15(5) के अंतर्गत नहीं आ सकता और न ही आएगा। आगे यह भी तर्क दिया गया कि उच्च न्यायालय ने यह सही माना कि जब उप-न्यायाधीश द्वारा दिनांक 13.11.2001 को निष्पादन याचिका में पारित आदेश को बरकरार रखा गया है, तब द्वितीय अतिरिक्त जिला न्यायाधीश, जम्मू द्वारा दिनांक 13.11.2001 को पारित अंतरिम आदेश को आगे प्रभाव देना उचित नहीं होगा। उन्होंने यह भी प्रस्तुत किया कि दिनांक 13.12.1984 की डिक्री को चुनौती नहीं दी गई थी और इसलिए समय बीतने के साथ वह अंतिम हो गई। अतः इस विलंबित अवस्था में अपीलकर्ता द्वारा स्थायी निर्माण आदि किए जाने संबंधी कोई भी तर्क स्वीकार्य नहीं हो सकता।

विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री रणजीत कुमार ने प्रत्युत्तर हलफनामे से निम्नलिखित महत्वपूर्ण घटनाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया:

(a) प्रतिवादी ने 19.5.1978 को वेद पाल के विरुद्ध वाद दायर किया।

(b) वाद के लंबित रहने के दौरान वादगत संपत्ति शशि कांत को बेच दी गई। उक्त वादगत संपत्ति बाद में 1.7.1981 को पुनः राज कुमार को बेच दी गई। तथापि इन दोनों बाद के क्रेताओं को वाद में पक्षकार नहीं बनाया गया। वादी के प्रतिवादी वेद पाल द्वारा वादगत संपत्ति बेच देने के बाद वाद का समुचित प्रतिवाद भी नहीं किया गया।

(c) प्रतिवादी का वाद 13.12.1984 को एकपक्षीय रूप से स्वीकार कर लिया गया।

(d) यद्यपि वाद का निर्णय 13.12.1984 को हो गया था, तथापि डिक्रीधारी प्रतिवादी ने काफी समय तक (28.8.2000 तक) उसके निष्पादन की कार्यवाही प्रारंभ नहीं की।

(e) इस बीच उक्त वादगत संपत्ति के क्रेता राज कुमार ने 17.1.1998 को वह संपत्ति वर्तमान अपीलकर्ता को बेच दी।

(f) प्रतिवादी ने केवल 28.8.2000 को ही निष्पादन कार्यवाही प्रारंभ की और 13.12.1984 के आदेश के निष्पादन की मांग की।

(g) अपीलकर्ता को जब 13.12.1984 की डिक्री तथा प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा आरंभ की गई निष्पादन कार्यवाही की जानकारी हुई, तब उसने निष्पादन न्यायालय के समक्ष निष्पादन का विरोध करते हुए आवेदन दायर किया। चूँकि निष्पादन न्यायालय डिक्री के विरुद्ध नहीं जा सकता, इसलिए उसका आवेदन अस्वीकार कर दिया गया।

(h) इन परिस्थितियों में अपीलकर्ता ने 13.12.1984 की डिक्री को चुनौती देते हुए घोषणा तथा स्थायी निषेधाज्ञा के लिए एक वाद दायर किया। विचारण न्यायाधीश ने अंतरिम स्थगन प्रदान किया, किन्तु बाद में विचारण न्यायालय ने उस स्थगन को निरस्त कर दिया।

(i) अपीलकर्ता ने स्थगन निरस्त किए जाने के आदेश के विरुद्ध अपील दायर की। द्वितीय अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने 4.12.2001 को अंतरिम स्थगन प्रदान किया।

(j) उक्त अंतरिम स्थगन को प्रतिवादी द्वारा उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। इस बीच कार्यवाही के लंबित रहने के दौरान अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने 4.10.2002 को आदेश पारित कर अंतरिम स्थगन को पूर्ण (absolute) कर दिया।

(k) उच्च न्यायालय ने अपने विवादित निर्णय द्वारा दिनांक 4.12.2001 के अंतरिम आदेश को निरस्त कर दिया तथा दिनांक 4.10.2002 के आदेश को भी निरस्त कर दिया, जबकि 4.10.2002 के आदेश को उसके समक्ष चुनौती ही नहीं दी गई थी।

(l) यह भी तथ्य है कि 13.12.1984 की डिक्री एकपक्षीय थी और विचारण न्यायालय को मामले के दूसरे पक्ष पर विचार करने का अवसर नहीं मिला। विचारण न्यायालय ने आपत्तियों के अभाव में वाद को एकपक्षीय रूप से स्वीकार कर लिया।

प्रतिवादियों के अधिवक्ता द्वारा किए गए प्रारंभिक तर्कों के प्रत्युत्तर में अपीलकर्ता की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि दिनांक 13.12.1984 की डिक्री एकपक्षीय डिक्री है और इसलिए उप-न्यायाधीश ने अपने समक्ष प्रस्तुत वादी के कथनों पर ही भरोसा किया। उन्होंने यह भी कहा कि वर्तमान अपीलकर्ता ने पहले ही एक वाद दायर कर मामले के सभी तथ्यों को प्रस्तुत कर दिया है। आगे यह भी प्रस्तुत किया गया कि प्रतिवादी संख्या 1 ने पूर्व-क्रय वाद दायर किए जाने की तिथि पर अपने मकान तथा पर्नालियों के अस्तित्व के संबंध में असत्य आरोप लगाया। वस्तुतः वर्ष 1978 में वाद दायर किए जाने के समय कोई मकान अस्तित्व में नहीं था और न ही आज तक प्रतिवादी संख्या 1 के हिस्से में कोई मकान मौजूद है। अतः यह तर्क दिया गया कि प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा पूर्व-क्रय का आधार विधि में टिकने योग्य नहीं था और इसलिए वादगत संपत्ति के संबंध में उसका पूर्व क्रय अधिकार समाप्त हो गया। यह भी प्रस्तुत किया गया कि अपीलकर्ता दिनांक 13.12.1984 की डिक्री में पक्षकार नहीं था और प्रतिवादी संख्या 1, जिसने वाद की लंबित अवस्था के दौरान ही वादगत संपत्ति बेच दी थी, ने वाद का समुचित प्रतिवाद भी नहीं किया। प्रतिवादी संख्या 1 को बाद की बिक्री की जानकारी होने के बावजूद उसने बाद के क्रेताओं को वाद में पक्षकार बनाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया। अतः यह प्रस्तुत किया गया कि अपीलकर्ता को वाद दायर कर डिक्री को चुनौती देने का अधिकार है और वह अपने लिए उपलब्ध सभी विधिक आधारों को भी प्रस्तुत कर सकता है।

हमने इस मामले के तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख किया है तथा दोनों पक्षों की ओर से उपस्थित अधिवक्ताओं द्वारा प्रस्तुत तर्कों को, अभिवचनों और अभिलेखों के संदर्भ में तथा अधीनस्थ न्यायालयों के समक्ष हुई कार्यवाही के संदर्भ में भी संक्षेप में प्रस्तुत किया है। अब हम दोनों पक्षों के तर्कों पर विचार करेंगे।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उच्च न्यायालय के समक्ष दो सिविल पुनरीक्षण याचिकाएँ दायर की गई थीं। इनमें से एक, सी.आर. संख्या 231/2001, वर्तमान अपीलकर्ता द्वारा उप-न्यायालय के दिनांक 13.11.2001 के आदेश के विरुद्ध दायर की गई थी, जिसके द्वारा विचारण न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXI नियम 53, 99 और 101 के अंतर्गत अपीलकर्ता द्वारा दायर आवेदन को अस्वीकार कर दिया था। यह आवेदन दिनांक 13.12.1984 की डिक्री के आधार पर प्रारंभ की गई निष्पादन कार्यवाही को चुनौती देने के लिए

दायर किया गया था, जबकि उक्त डिक्री वर्ष 1984 की होने के बावजूद उसका निष्पादन वर्ष 2000 में प्रारंभ किया गया था। दूसरी पुनरीक्षण याचिका, सी.आर. संख्या 4/2002, वर्तमान प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर की गई थी, जिसमें जम्मू के द्वितीय अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा दिनांक 4.12.2001 को पारित अंतरिम आदेश को चुनौती दी गई थी। यह आदेश अपीलकर्ता द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXXXIII नियम 1(र) के अंतर्गत दायर अपील में पारित किया गया था। यह अपीलें जम्मू के विद्वान उप-न्यायाधीश द्वारा पारित उस आदेश के विरुद्ध थीं, जिसमें अपीलकर्ता द्वारा अपने वाद में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXXIX नियम 1 और 2 के अंतर्गत दायर निषेधाज्ञा की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया गया था। उक्त वाद में अपीलकर्ता ने दिनांक 13.12.1984 की डिक्री को चुनौती दी थी। अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने अपील में निष्पादन कार्यवाही पर अंतरिम स्थगन का आदेश पारित किया। उच्च न्यायालय ने अपने विवादित निर्णय द्वारा अपीलकर्ता द्वारा दायर सिविल पुनरीक्षण याचिका को खारिज कर दिया तथा प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर सिविल पुनरीक्षण याचिका को स्वीकार कर लिया। जिस डिक्री को अपीलकर्ता ने अपने वाद में चुनौती दी थी, वह दिनांक 13.12.1984 को प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा जम्मू और कश्मीर पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम, 1936 (संक्षेप में "अधिनियम") के प्रावधानों के अंतर्गत दायर पूर्व-क्रय वाद में पारित की गई थी, जिसमें वादपत्र में निम्नलिखित कथन किए गए थे:

> प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दायर सिविल पुनरीक्षण याचिका के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जिस डिक्री को अपीलकर्ता ने अपने वाद में चुनौती दी थी, वह दिनांक 13.12.1984 को पारित की गई थी। यह डिक्री प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा जम्मू और कश्मीर पूर्व क्रय अधिकार अधिनियम, 1936 (संक्षेप में "अधिनियम") के प्रावधानों के अंतर्गत दायर पूर्व-क्रय वाद में पारित की गई थी, जिसमें वादपत्र में निम्नलिखित कथन किए गए थे: "वादपत्र में वादी द्वारा यह अभिवचन किया गया है कि वह मोहल्ला मस्तगढ़, जम्मू में स्थित एक मकान का स्वामी है, जबकि प्रतिवादी संख्या 1 और 2 उसी स्थानीय क्षेत्र में स्थित एक मकान तथा एक खाली भूमि के टुकड़े के स्वामी हैं, जो वादी के मकान से सटी हुई है। यह भी कहा गया कि उसके मकान की सभी पर्नालियाँ उसके मकान के निर्माण के समय से ही प्रतिवादी संख्या 2 की भूमि की ओर बहती हैं

और उसका मकान भी प्रतिवादी के मकान से सटा हुआ है, अतः उसे प्रतिवादी संख्या 2 के मकान में पूर्व-क्रय का अधिकार प्राप्त है।" (जोर दिया गया)

यह वाद दिनांक 17.3.1978 को दायर किया गया था, जिसमें उपर्युक्त प्रभाव का अभिवचन किया गया था। अधिनियम के अंतर्गत धारा 15 में, जैसा कि वर्ष 1973 में संशोधित किया गया, विद्यमान विधिक प्रावधान इस प्रकार है:

"15 – शहरी अचल संपत्ति में पूर्व क्रय अधिकार जिन व्यक्तियों में निहित होगा – शहरी अचल संपत्ति के संबंध में पूर्व क्रय का अधिकार निम्नलिखित व्यक्तियों में निहित होगा।
प्रथम – यदि कोई सह-स्वामी हों, तो ऐसी संपत्ति के सह-स्वामियों में;
द्वितीय – जहाँ विक्रय किसी भवन या संरचना के स्थल का हो, वहाँ उस भवन या संरचना के स्वामियों में;
तृतीय – जहाँ विक्रय ऐसी संपत्ति का हो जिसमें अन्य संपत्तियों के साथ साझा सीढ़ी हो, वहाँ उन संपत्तियों के स्वामियों में;
चतुर्थ – जहाँ विक्रय ऐसी संपत्ति का हो जिसका बाहरी प्रवेश द्वार अन्य संपत्तियों के साथ साझा हो, वहाँ उन संपत्तियों के स्वामियों में;
पंचम – जहाँ विक्रय किसी आश्रित (servient) संपत्ति का हो, वहाँ प्रधान (dominant) संपत्ति के स्वामियों में और इसके विपरीत;
षष्ठ – उस संपत्ति के किरायेदार/अधिवासी में।

किन्तु वर्ष 1973 के संशोधन से पूर्व यह प्रावधान इस प्रकार था:

"15 - ऐसे व्यक्ति जिनमें शहरी अचल संपत्ति में प्राथमिक खरीद का अधिकार निहित है। शहरी अचल संपत्ति के संबंध में प्राथमिक खरीद का अधिकार निम्नलिखित में निहित होगा -
पहला - ऐसी संपत्ति के सह-भागियों में, यदि कोई हों;
दूसरा - जहां बिक्री भवन या संरचना की स्थलभूमि की हो, वहां उस भवन या संरचना के मालिकों में;
तीसरा - जहां बिक्री ऐसी संपत्ति की हो जिसमें अन्य संपत्तियों के साथ सीढ़ी साझा हो, वहां उन संपत्तियों के मालिकों में;

चौथा - जहां बिक्री ऐसी संपत्ति की हो जिसमें अन्य संपत्तियों के साथ सामान्य बाहरी प्रवेश द्वार हो, वहां उन संपत्तियों के मालिकों में;

पाँचवाँ - जहां बिक्री किसी अधीन संपत्ति की हो, वहां प्रमुख संपत्ति के मालिकों में और इसके विपरीत;

छठा - बिक्री की गई संपत्ति से सन्निहित संपत्ति के मालिकों में।"

इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि 1973 में संशोधित केवल 'छठा' उपधारा है। देखा जा सकता है कि याचिका 1978 में दायर की गई थी, जिसमें 1973 के संशोधन से पहले अस्तित्व में रहे कानून के तहत प्राथमिक अधिकार (pre-emption) का दावा किया गया था। 1973 के बाद, जैसा कि ऊपर बताया गया है, अधिनियम में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि बिक्री की गई संपत्ति से सन्निहित संपत्ति का मालिक प्राथमिक अधिकार की मांग कर सके। इस प्रकार, वादी ने 1973 से पूर्व अस्तित्व में रहे संशोधन से पूर्व धारा 15 की 'छठी' उपधारा के तहत आदेश प्रदान करने का अनुरोध किया। हालांकि, पारित आदेश, जम्मू के उप-न्यायाधीश के निर्णय के उस पैराग्राफ से देखा जा सकता है, जो इस प्रकार है, धारा 15 की 'पाँचवीं' उपधारा के आधार पर दिया गया।

> वादी के कथन से, जिसे उसने प्रस्तुत किए गए चार गवाहों, अर्थात् पीडब्लू 1 अमरनाथ, पीडब्लू 2 प्रदीप कुमार,पीडब्लू 3 मास्टर राम और पीडब्लू 4 प्रीतम सिंह द्वारा समर्थन प्राप्त है, यह साबित होता है कि परीक्षण के दौरान सभी गवाहों ने एक स्वर में कहा कि याचिका की गई संपत्ति वादी के घर के समीप स्थित है और वादी के घर की छत में लगी पामला की पानी की निकासी याचिका की गई संपत्ति से होकर गुजरती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वादी का घर याचिका की गई संपत्ति के लिए प्रमुख संपत्ति है और इस प्रकार वादी को प्राथमिक खरीद का अधिकार धारा 15(5) के अंतर्गत प्राप्त है।

इस प्रकार, यद्यपि आदेश एक अस्तित्वहीन कानून की व्यवस्था पर माँगा गया था, न्यायालय ने इसे उस प्रावधान के तहत प्रदान किया, जो वादी - उत्तरदाता संख्या 1 के मामले में लागू नहीं था।

यह आदेश दो मुकदमों में चुनौती का विषय था। एक मुकदमा राज कुमार द्वारा दायर किया गया था, जो कि यहाँ अपीलकर्ता का विक्रेता है, जिसमें यह घोषणा मांगी गई कि जम्मू के उप-न्यायाधीश की अदालत द्वारा 13.12.1984 को सिविल मुकदमा संख्या 177/78 में पारित आदेश शून्य और अमान्य घोषित किया जाए तथा इसे निष्पादनीय न माना जाए। यह मुकदमा अभी भी लंबित है।

इसके बाद, यहाँ अपीलकर्ता ने भी एक मुकदमा दायर किया, फाइल संख्या 48 - सिविल मुकदमा शीर्षक जे.सी. साहगल बनाम डी.डी. अब्रोल एवं अन्य, जिसमें घोषणा और स्थायी निषेधाज्ञा की याचिका की गई कि आदेश शून्य है क्योंकि यह बिना क्षेत्राधिकार के संपत्ति की सन्निहितता और निकटता की शून्य उपधारा पर पारित किया गया और यह जानबूझकर धोखाधड़ी, छल और तथ्यों का गलत प्रस्तुतिकरण के आधार पर पारित किया गया। यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि जम्मू के सम्माननीय उप-न्यायाधीश ने अपनी 13.11.2001 की आदेश में, जो आदेश XXI, नियम 58 के तहत दायर आवेदन पर है, पृष्ठ 51-52 के पैराग्राफ 7 में निम्नलिखित रूप में नोट किया है:

> "यह निस्संदेह सत्य है कि सन्निहितता के संबंध में प्राथमिक खरीद का आधार रद्द कर दिया गया है, लेकिन प्रश्न यह है कि 13.12.1984 को इस न्यायालय द्वारा पारित आदेश सन्निहितता के आधार पर था या प्राथमिक खरीद अधिनियम की धारा 15(5) में उल्लिखित आधार पर। 13.8.1984 के निर्णय का संक्षिप्त अवलोकन यह दर्शाता है कि निर्णय और आदेश प्राथमिक खरीद अधिकार अधिनियम की धारा 15(5) के अनुसार पारित किया गया था, इस आधार पर कि वादी का घर याचिका की गई संपत्ति के लिए प्रमुख संपत्ति है और आदेशधारी के घर की पर्नालाओं का पानी याचिका की गई संपत्ति से होकर गुजरता है। आवेदक के वकील का यह तर्क कि आदेश सन्निहितता के आधार पर पारित किया गया है, निराधार है। यद्यपि यह मुकदमे और निर्णय दोनों में उल्लेखित है कि याचिका की गई संपत्ति वादी के घर के सन्निकट है, लेकिन किसी भी कल्पना द्वारा यह नहीं कहा जा सकता कि आदेश सन्निहितता के आधार पर पारित किया गया है।" [जोर दिया गया]

इस प्रकार, देखा गया कि यद्यपि उत्तरदाता संख्या 1 ने अस्तित्वहीन कानून की व्यवस्था पर प्राथमिक अधिकार (pre-emption) की मांग की थी, जैसा कि पहले बताया गया, न्यायालय ने ऐसा प्राथमिक अधिकार आदेश किसी अन्य आधार पर प्रदान किया, जिस पर तर्क नहीं किया गया था। और इस प्रकार उक्त आदेश दो मुकदमों में चुनौती का विषय रहा, जैसा कि ऊपर बताया गया।

इसके अतिरिक्त, यदि वह आदेश जिसे निष्पादित करने का प्रयास किया जा रहा है, 1984 के आदेश के 16 वर्ष बाद वर्ष 2000 में निष्पादित किया जाता है, तो अपीलकर्ता, जो वर्तमान में संपत्ति में कब्जे में है, उसे अपीलकर्ता द्वारा दायर मुकदमे के निपटारे तक संपत्ति से बेदखल कर दिया जाएगा, विशेष रूप से जब ऐसा आदेश निष्पादित करने के लिए मांगा गया है, तो यह आदेश प्रस्तुत कानूनी तर्कों के आधार पर शून्य है।

असल में, उत्तरदाता के वकील ने बहस के दौरान ईमानदारी से स्वीकार किया कि यहाँ उत्तरदाता द्वारा की गई सिविल रिवीजन अपील उस अंतरिम आदेश के खिलाफ थी, जो जम्मू के तीसरे अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा 04.12.2001 को पारित किया गया था, जिसमें अपीलकर्ता द्वारा दायर मुकदमे के निपटारे तक निष्पादन कार्यवाही पर स्थगन प्रदान किया गया था।

उस सिविल रिवीजन में, उच्च न्यायालय ने कोई स्थगन आदेश पारित नहीं किया। तीसरे अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने उस अपील में आदेश XXXIII, नियम 1(r) के तहत 04.10.2002 को अंतिम आदेश पारित किया, जिसमें अपीलकर्ता द्वारा दायर मुकदमे के निपटारे तक स्थगन को पूर्ण बनाया गया। यह 04.10.2002 का आदेश कभी उच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दिया गया। ये तथ्य स्वयं उच्च न्यायालय के निर्णय से स्पष्ट होंगे। उच्च न्यायालय में यह तर्क दिया गया कि 04.10.2002 के आदेश को कैसे रद्द किया जा सकता है जब यह आदेश उच्च न्यायालय में चुनौती का विषय ही नहीं था। उच्च न्यायालय ने, हालांकि, निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया:

> हालाँकि, इस विवाद पर, जहां तक उपरोक्त पक्ष का संबंध है, कोई टिप्पणी किए बिना यह कहना कि एक अधीनस्थ न्यायालय जिसका अंतरिम आदेश चुनौती का विषय है, यदि किसी मामले का अंतिम निर्णय दे देता है और इससे इस न्यायालय को कार्यवाही की शुद्धता या वैधता पर निर्णय देने से वंचित किया जाना चाहिए, एक

> ऐसा तर्क है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया के द्वारा, किसी अधीनस्थ न्यायालय को यह अवसर नहीं दिया जा सकता कि वह उच्चतर न्यायालय को ऐसी स्थिति में रखे जिससे वह किसी आदेश की वैधता या शुद्धता पर निर्णय देने में असमर्थ हो जाए।

यह प्रस्तुत किया गया कि उपरोक्त निष्कर्ष उच्च न्यायालय का एक त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष है, जैसा कि यहां उत्तरदाता के वकील ने ईमानदारी से स्वीकार किया, क्योंकि जब उच्च न्यायालय ने तीसरे अतिरिक्त जिला न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाही पर स्थगन (stay) नहीं लगाया और तीसरे अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश को चुनौती या अपील नहीं दी गई, और केवल अंतरिम आदेश के खिलाफ अपील की गई थी। उच्च न्यायालय को 04.10.2002 के आदेश, जो तीसरे अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा पारित अंतिम आदेश था, को रद्द नहीं करना चाहिए था, जैसा कि अपने निर्णय के प्रभावी भाग में उच्च न्यायालय ने किया।

वर्तमान मामले में, उत्तरदाता संख्या 1, उस प्राथमिक अधिकार (pre-emption) को लागू करने का प्रयास कर रहा है, जिसे इस न्यायालय ने कई निर्णयों में एक बहुत ही कमजोर अधिकार के रूप में माना है। भाऊ राम बनाम बी. बैजनाथ सिंह, [1962] सप्लीमेंट 3 एससीआर 724 में, इस न्यायालय ने पृष्ठ 740-741 पर निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया:

> "सह-भागी के पक्ष में प्राथमिक अधिकार (pre-emption) के कानून की संवैधानिकता के प्रश्न पर कई उच्च न्यायालयों ने विचार किया है और इसे सर्वत्र संवैधानिक रूप से मान्य ठहराया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा कानून यह अधिकार प्रदान करके एक उचित प्रतिबंध लगाता है, जो सामान्य जनता के हित में है। यदि किसी बाहरी व्यक्ति को किसी संपत्ति में सह-भागी के रूप में शामिल किया जाता है, तो सामान्य प्रबंधन अत्यंत कठिन हो जाएगा और सह-स्वामित्व के लाभ नष्ट हो जाएंगे। सह-भागी के पक्ष में प्राथमिक अधिकार का परिणाम यह है कि यदि बिक्री होती है, तो संपत्ति अंततः एक सह-भागी के हाथ में पूर्ण मालिक के रूप में आ सकती है, और यह स्वाभाविक रूप से एक बड़ा लाभ होगा। यह लाभ विशेष रूप से आवासीय भवन के मामले में अधिक है और धारा 16 शहरी संपत्ति से संबंधित है; क्योंकि आवासीय घर में बाहरी व्यक्ति के प्रवेश से सभी प्रकार की जटिलताएँ

उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार के प्राथमिक अधिकार कानून से होने वाले लाभ स्पष्ट हैं और हमारे विचार में वे विक्रेता को अपनी इच्छा के अनुसार संपत्ति बेचने में होने वाली असमर्थता के कारण होने वाले नुकसान से कहीं अधिक हैं। खरीदार भी इस कानून से अधिक प्रभावित नहीं होता क्योंकि उसे केवल संपत्ति के अविभाजित हिस्से के स्वामित्व का अधिकार वंचित किया जाता है। कुल मिलाकर, हमें लगता है कि सह-भागी पर आधारित प्राथमिक अधिकार संपत्ति प्राप्त करने, रखने और उसे विक्रय करने के अधिकार पर एक उचित प्रतिबंध है और यह सामान्य जनता के हित में है।"

हमारा मत है कि निचली अदालतें उस आदेश को अपीलकर्ता के विरुद्ध निष्पादित करने में उचित नहीं थीं, जो आदेश में पक्षकार नहीं था। इसी प्रकार, उच्च न्यायालय भी सी.आर. संख्या 4/2002 पर विचार करने में उचित नहीं है, जो अंतरिम आदेश को चुनौती देती है, जो अप्रभावी हो चुका है क्योंकि अपीलीय न्यायालय ने अपनी 04.10.2002 की निर्णय द्वारा स्वयं अपील का निपटारा कर दिया था। उच्च न्यायालय, 04.12.2001 के अंतरिम आदेशों में हस्तक्षेप करते समय, अपीलीय न्यायालय के 04.10.2002 के अंतिम निर्णय को रद्द करने का अधिकार नहीं रखता, जिसे उच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दी गई थी।

जैसा कि पहले देखा गया, एक मुकदमा राज कुमार द्वारा दायर किया गया था, जो कि यहाँ अपीलकर्ता का विक्रेता है, जिसमें यह घोषणा मांगी गई कि जम्मू के उप-न्यायाधीश द्वारा 13.12.1984 को सिविल मुकदमा संख्या 177/78 में पारित आदेश शून्य और अमान्य घोषित किया जाए तथा इसे निष्पादनीय न माना जाए। यहाँ अपीलकर्ता ने भी फाइल संख्या 48 - सिविल मुकदमा दायर किया, जिसमें घोषणा और स्थायी निषेधाज्ञा की याचिका की गई कि आदेश शून्य है क्योंकि यह बिना क्षेत्राधिकार के सन्निहितता और निकटता की शून्य उपधारा पर पारित किया गया और यह जानबूझकर धोखाधड़ी, छल और तथ्यों के गलत प्रस्तुतिकरण के आधार पर पारित किया गया। मुकदमों की लंबित स्थिति के दौरान, यदि 1984 के आदेश के 16 वर्ष बाद निष्पादन के लिए यह आदेश लागू किया जाता है, तो अपीलकर्ता, जो वर्तमान में संपत्ति में कब्जे में है, अपीलकर्ता द्वारा दायर मुकदमों के निपटारे तक संपत्ति से बेदखल कर दिया जाएगा।

मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार, हम आदेश देते हैं कि निष्पादन को रोक में रखा जाए जब तक कि दो मुकदमों का निपटारा नहीं हो जाता, एक मुकदमा राज कुमार द्वारा दायर किया गया है, जो कि यहाँ अपीलकर्ता का विक्रेता है, और दूसरा मुकदमा अपीलकर्ता द्वारा दायर किया गया है, फाइल संख्या 48 - सिविल मुकदमा शीर्षक *जे.सी. साहगल बनाम डी.डी. अब्रोल एवं अन्य*। इस बीच, अपीलकर्ता को संपत्ति से बेदखल नहीं किया जाएगा। यह विशेष रूप से इस तथ्य के दृष्टिगत है कि उत्तरदाता संख्या 1 प्राथमिक अधिकार को लागू करने का प्रयास कर रहा है, जिसे न्यायालयों ने कई निर्णयों में एक कमजोर अधिकार माना है।

निष्कर्षतः, अपीलों को मंजूरी दी जाती है और जम्मू एवं कश्मीर उच्च न्यायालय द्वारा सी.आर. संख्या 231/2001 और सी.आर. संख्या 4/2002 में 10.10.2002 को पारित सम्मिलित निर्णय और अंतिम आदेश रद्द किया जाता है। कोई लागत नहीं दी जाएगी।

वी.एस. अपील स्वीकृत।

यह अनुवाद पियूष आनंद, पैनल अनुवादक द्वारा किया गया है|